मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी
(फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'-एक अनुभव)

"अपने आप को माफ़ कर दिया कीजिए"

'फ़ैज़' साहब के राजनीतक विचारों से लोगों का मतभेद रहा है और मैं भी उन ही में से एक हूँ। लेकिन आज़ादी, मानवता का सम्मान और मानव मूल्यों की पहरेदारी जिस साहस और दृढ़ संकल्प से उन्होंने की वह सराहनीय और वन्दनीय है। जिस बाँके विचार-पथ की दिशा में उन्होंने एक दफ़ा अपना रुख़ कर लिया फिर सारी उम्र उससे मुँह नहीं मोड़ा और अपनी इसी वफ़ादारी के अहद (संकल्प) में *इलाज-ए-गर्दिश-ए-लैल-व नहार* ढूँढा[i] और उन्होंने यह उस ज़माने में किया जब मूल्य-विहीन समझौतावादी भूमि के टुकड़े पर ऐसे लिखने वालों का सिक्का चलता था जो हर खेल के बाद अपने एंटीना की दिशा बदलते रहे थे, बल्कि कुछ तो दूसरे के "एंटीना" से अपना तार जोड़के "*तमाशा-ए-अहल-ए-क़लम देखते हैं*[ii]"। कितने ऐसे हैं जो अर्ध-शताब्दी तक एक ही रीति पर क़ायम रहे हों? बदलती ऋतु के साथियों ने वफ़ादारियाँ बदलीं, विचार-पथ बदले, कुछ दुखियारों पर तो ऐसा बिजोग पड़ा कि उन्होंने मारे डरके सिर्फ़ विचार-पथ ही नहीं बदला पेय-पदार्थ भी बदल दिया, यानी सादा पानी पी-पीके बहकने और लड़खड़ाने लगे। महानता की तलाश में निकले थे हीनता हाथ लगी। इनका ज़मीर तो क्या साफ़ होगा इन बेचारों के तो विचार तक साफ़ नहीं।

'फ़ैज़' साहब से मेरी पहली मुलाक़ात छह साल पहले माननीय माजिद अली साहब के यहाँ हुई। बहुत से श्रद्धालु 'फ़ैज़' साहब के गिर्द घेरा डाले बैठे थे। मुझे अच्छी तरह याद नहीं कि किसी ने 'फ़ैज़' साहब से मेरा परिचय कराया या नहीं। बहरहाल मैं दो घंटे तक मामूल-व-मौक़े के मुताबिक़ ख़ामोश बैठा मज़े-मज़े की बातों का लुत्फ़ लेता रहा। दूसरे दिन सुबह तड़के प्रिय इफ़्तिख़ार आरिफ़[iii] का फ़ोन आया कि 'फ़ैज़' साहब आपके यहाँ आज किसी वक़्त आना चाहते हैं। हुआ यह कि आपके जाने के बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि वो साहब जो अपनी बेगम के पहलू में सिर निहुड़ाये गुमसुम बैठे थे वो कौन थे? मैंने उन्हें बताया कि वो यूसुफ़ी साहब थे और यह उनका नॉर्मल पोज़ और पड़ोस है। 'फ़ैज़' साहब कहने लगे "तुमने तआरुफ़ क्यों नहीं कराया?" मैंने कहा मैं तो सोच भी नहीं सकता था कि आप यूसुफ़ी साहब से कभी नहीं मिले। कहने लगे "हाँ कुछ ऐसा ही है। मुझे बड़ी शर्मिंदगी है। सुबह ही मुझे ले चलो"।

---

[i] फ़ैज़ की कविता "निसार मैं तेरी गलियों के " की आख़िरी दो पंक्तियों की ओर संकेत हैं :
जो तुझसे अहद-ए-वफ़ा उस्तवार रखते हैं // इलाज-ए-गर्दिश-ए-लैल-ओ-नहार रखते हैं ।
अर्थात ऐ वतन तेरे प्रेमी जिनका तुझसे वफ़ादारी का संकल्प दृढ़ है, उनके पास रात-दिन के चक्करों की उठा-पठक का इलाज मौजूद है। (अनु.)

[ii] पैरोडी: बनाकर फ़क़ीरों का हम भेस ग़ालिब // तमाशा-ए-अहल-ए-करम देखते हैं (मिर्ज़ा 'ग़ालिब')

[iii] इफ़्तिख़ार आरिफ़: उर्दू के एक नामचीन शायर । (अनु.)

मैंने इफ़्तिख़ार आरिफ़ से कहा "'फ़ैज़' साहब से अर्ज़ कर दीजिये कि आज शाम मृग खुद ख़िदमत में हाज़िर होकर अपनी कस्तूरी का तआरुफ़ करवा देगा। घटना-स्थल वही हम सबकी तीर्थ-स्थली यानी माजिद अली साहब का दौलतख़ाना। शाम को मुलाक़ात हुई तो 'फ़ैज़' साहब इतने लज्जित थे कि मुझे खुद अपने आपसे शर्म आने लगी। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि खुदको इस कोताही पर भी ख़तावार ठहरा रहे हैं कि मेरी और उनकी मुलाक़ात पंद्रह-बीस साल पहले क्यों न हुई। 'फ़ैज़' साहब की इस विनम्रता और शालीनता से मैं इस लिए और भी प्रभावित हुआ कि मुझे न जाने क्यों अब भी यक़ीन है कि उस समय तक उन्होंने मेरी कोई रचना नहीं पढ़ी थी। सुनी-सुनाई तारीफ़ पर ईमान ले आए थे । बात सिर्फ़ इतनी सी थी कि वे मितभाषी थे और मैं हस्बे-मामूल अपने कोकून में बंद, और जब दोनों बुज़ुर्ग शर्मीले हों तो बरख़ुरदार इफ़्तिख़ार का तूती अगर बोले नहीं तो क्या करे।

कुछ बातें ऐसी हैं जो 'फ़ैज़' साहब के स्वभाव और सिद्धांत के विरुद्ध थीं। मसलन उन्हें कभी रूपए का ज़िक्र करते नहीं सुना, अपनी किसी ज़रुरत का ज़िक्र करते हुए नहीं सुना। ज़माने की शिकायत या अपने राजनीतिक मत के बारे में गद्य में कभी गुफ़्तगू करते नहीं सुना। किसी की चुग़ली या बुराई नहीं सुन सकते थे। कोई उनके सामने अदबदाकर किसी का ज़िक्र बुराई के तौर पर करता तो वे अपना ज़ेहन, ज़बान और कान सब सुइच-ऑफ़ कर देते थे। एक दफ़ा मुझसे पूछा "आजकल कुछ लिख रहे हैं या बैंक के काम से फ़ुर्सत नहीं मिलती?" मैंने कहा फ़ुर्सत तो बहुत है मगर काहिल हो गया हूँ। पित्ता नहीं मारा जाता। पढ़ाई की अय्याशियों में पड़ गया हूँ और जब किसी लिखने वाले को पढ़ने में ज़्यादा मज़ा आने लगे तो समझिए हरामख़ोरी पर उतर आया है"। मैं बहुत देर तक खुद को इसी तरह बुरा भला कहता रहा। 'फ़ैज़' साहब ख़ामोश सुनते रहे। फिर स्नेह से मेरे कंधे पर हाथ रखकर इतने नज़दीक आ गए कि उनकी सिग्रेट की राख मेरी टाई पर गिरने लगी। कहने लगे "भई, हम किसी की बुराई नहीं सुन सकते। किसी के लिए मन में मैल रखना अच्छा नहीं। अपने आपको माफ़ कर दिया कीजिये। दरगुज़र (क्षमा) करना सवाब का काम है।"

(शिगूफ़ा-2001 में प्रकाशित हुआ)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद,
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क